

आत्मा के कर्तृत्वपने से हानि : समयदेशना के परिप्रेक्ष्य में

लेखक:

डॉ. आशीष जैन आचार्य 'शाहगढ़'

(राष्ट्रपति पुरस्कार प्राप्त)

महामंत्री, प्राकृत भाषा विकास फाउण्डेशन, सागर (म.प्र.)

“जैन दर्शन में अकर्तृत्व का सिद्धान्त निष्क्रियता का सिद्धान्त नहीं, बल्कि द्रव्यस्वातंत्र्य और आत्मपुरुषार्थ का सिद्धान्त है।”

सारांश

जैन दर्शन में आत्मा के कर्तृत्व का प्रश्न अत्यंत सूक्ष्म, दार्शनिक तथा साधनामूलक है। सामान्य दृष्टि से मनुष्य स्वयं को शरीर, इन्द्रियों, मन, वचन, कर्म तथा बाह्य परिस्थितियों का कर्ता मानता है। यही कर्तृत्वबुद्धि उसके भीतर “मैंने किया”, “मैं कर रहा हूँ”, “मैं इसे बदल सकता हूँ”, “मैं दूसरे को सुख-दुःख दे सकता हूँ” जैसी अहंबुद्धि को उत्पन्न करती है। दूसरी ओर, जैन आगम आत्मा और परद्रव्य की स्वतंत्र सत्ता का प्रतिपादन करता है। आचार्य कुन्दकुन्द के *समयसार* में स्पष्ट किया गया है कि आत्मा अपने भावों का कर्ता है, किंतु पुद्गलमय द्रव्यकर्म का परमार्थतः कर्ता नहीं है। गाथा 102 आत्मा को अपने शुभ-अशुभ भावों का कर्ता बताती है, जबकि गाथा 104-106 पुद्गल कर्म के संबंध में आत्मा के कर्तृत्व को व्यवहारोपचार तक सीमित करती हैं।

समयदेशना के परिप्रेक्ष्य में समस्या केवल “कर्ता” शब्द की नहीं, बल्कि कर्तृत्वबुद्धि के आश्रय की है। जब आत्मा परद्रव्य में कर्तृत्व स्वीकार करता है तब स्व-पर भेदज्ञान क्षीण होता है, आत्मस्वरूप की विस्मृति होती है, पराधीनता की भावना उत्पन्न होती है, राग-द्वेष और कषाय पुष्ट होते हैं तथा कर्मबन्ध की प्रक्रिया मजबूत होती है। इसके विपरीत जब साधक यह जानता है कि प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने स्वभाव एवं परिणाम का कर्ता है, तब पर में कर्तृत्वबुद्धि का क्षय और निज ज्ञायकस्वभाव में उपयोग की प्रतिष्ठा होती है। अतः आत्मा के परद्रव्य-कर्तृत्व का निषेध अकर्मण्यता का सिद्धान्त नहीं, बल्कि आत्मस्वातंत्र्य, भेदविज्ञान और मोक्षमार्ग की स्थापना है।

मुख्य शब्द : आत्मा, कर्तृत्व, अकर्तृत्व, कर्तृत्वबुद्धि, समयसार, समयदेशना, भावकर्म, द्रव्यकर्म, स्व-पर भेदविज्ञान, मिथ्यात्व, कषाय, कर्मबन्ध, मोक्ष।

1. प्रस्तावना

मानव जीवन का सबसे गहरा भ्रम यह है कि वह स्वयं को बाह्य जगत् की क्रियाओं का सर्वकर्ता मान लेता है। “मैंने घर बनाया”, “मैंने उसे सुख दिया”, “मैंने उसे दुःख दिया”, “मैंने कर्म बाँधा”, “मैं कर्म को नष्ट कर रहा हूँ”—ये सभी कथन व्यवहार में प्रचलित हैं; परंतु आध्यात्मिक दृष्टि से इनके भीतर छिपी कर्तृत्वबुद्धि का परीक्षण आवश्यक है।

जैन दर्शन की विशेषता यह है कि वह संसार में घटित होने वाली प्रत्येक घटना के लिए किसी एक परमकर्ता को स्वीकार नहीं करता। न ईश्वर जगत् का कर्ता है, न कोई जीव दूसरे जीव के सुख-दुःख का वास्तविक कर्ता है और न आत्मा पुद्गल-द्रव्य के स्वभावपरिणामन को अपनी सत्ता से नियंत्रित कर सकता है। *समयसार* का कर्तृ-कर्म अधिकार इसी स्वतंत्र वस्तुव्यवस्था को अत्यंत सूक्ष्मता से स्पष्ट करता है। आत्मा और पुद्गल दोनों अपने-अपने परिणाम में परिणामन करते हैं; परस्पर निमित्तता हो सकती है, पर एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के स्वभावपरिणाम का वास्तविक कर्ता नहीं बन जाता।

शोध की समस्या

इस शोध की मूल समस्या को निम्न प्रश्न में संक्षिप्त किया जा सकता है— यदि आत्मा परद्रव्य का कर्ता नहीं है, तो संसार में आत्मा का कर्तृत्व किस अर्थ में स्वीकार किया जाए? और परद्रव्य के कर्तृत्व की मिथ्या बुद्धि से आत्मा को क्या हानि होती है? यहाँ दो अतियों से बचना आवश्यक है—

- पहली अति : “आत्मा कुछ भी नहीं करता” इसलिए साधना, पुरुषार्थ, आत्मपरिणामन आदि का भी कोई अर्थ नहीं।
- दूसरी अति : “आत्मा सब कुछ करता है” इसलिए शरीर, कर्म, दूसरे जीव, बाह्य पदार्थ आदि भी आत्मा के नियंत्रण में हैं।

जैन सिद्धान्त इन दोनों अतियों को स्वीकार नहीं करता। *समयसार* में आत्मा के स्वपरिणाम का कर्तृत्व और परद्रव्य के परिणाम का अकर्तृत्व—दोनों को समन्वित रूप से समझाया गया है। गाथा 102 में आत्मा को अपने शुभ-अशुभ भाव का कर्ता तथा उसका वेदक कहा गया है; वहीं गाथा 104 में पुद्गलमय कर्म के संबंध में आत्मा के कर्तृत्व का निषेध है।

शोध का उद्देश्य एवं पद्धति

इस शोध के प्रमुख उद्देश्य हैं—

- आत्मा के कर्तृत्व की जैन दार्शनिक अवधारणा को स्पष्ट करना।
- समयसार के कर्तृ-कर्म अधिकार के आलोक में स्वद्रव्य और परद्रव्य के कर्तृत्व का विवेचन करना।
- कर्तृत्वबुद्धि से उत्पन्न आध्यात्मिक हानियों को रेखांकित करना।
- समयदेशना में प्रतिपादित अकर्तृत्वबोध को मोक्षमार्ग से जोड़ना।
- अकर्तृत्व को अकर्मण्यता न मानते हुए उसे आत्मस्वातंत्र्य और ज्ञायकभाव से सम्बद्ध करना।

शोध-पद्धति के रूप में आगमाधारित पाठ-विश्लेषण, तुलनात्मक अध्ययन, नय-विश्लेषण तथा साधनामूलक व्याख्या को अपनाया गया है। प्राथमिक स्रोत के रूप में आपके उपलब्ध कराए गए समयदेशना-आधारित चारों पाठों तथा आचार्य कुन्दकुन्दकृत *समयसार* को आधार बनाया गया है। बाह्य सत्यापन में *समयसार*, *प्रवचनसार* और *तत्त्वार्थसूत्र* की उपलब्ध टीकात्मक सामग्री का उपयोग किया गया है।

कर्तृत्व : प्रश्न “आत्मा कर्ता है या नहीं ?” नहीं, “किसका कर्ता है ?”

यही इस पूरे विषय की सबसे महत्वपूर्ण स्थापना है। यदि प्रश्न केवल इतना हो कि “आत्मा कर्ता है या अकर्ता ?”, तो उत्तर विरोधाभासी प्रतीत हो सकता है। किंतु यदि प्रश्न किया जाए— “आत्मा किसका कर्ता है और किसका कर्ता नहीं है ?” तो जैन सिद्धान्त अत्यंत स्पष्ट हो जाता है।

आत्मा अपने परिणाम का कर्ता है। *समयसार* गाथा 102 का भाव है—

“जं भावं सुहमसुहं करेदि आदा स तस्स खलु कत्ता।”

अर्थात् आत्मा जिस शुभ या अशुभ भाव को करता है, वह उस भाव का कर्ता है। इस स्तर पर क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष आदि अशुद्ध परिणाम हों या ज्ञान-दर्शन की शुद्ध परिणतियाँ— आत्मा के परिणामों का संबंध आत्मा से है। इसी तथ्य को समयदेशना के पाठ में भी विस्तार से समझाया गया है कि आत्मा के भीतर होने वाले परिणामों को पूर्णतः बाहरी कर्म के खाते में डाल देना उचित नहीं।

आत्मा पुद्गल-कर्म का परमार्थतः कर्ता क्यों नहीं ?

यहाँ जैन दर्शन का द्रव्य-स्वातंत्र्य सिद्धान्त सामने आता है। प्रत्येक द्रव्य अपने द्रव्य, गुण और पर्याय के साथ अभिन्न संबंध रखता है। पुद्गल का वर्ण, रस, गंध, स्पर्श तथा पुद्गलमय कर्मपर्याय पुद्गल की अपनी सत्ता में हैं। आत्मा चेतन है, पुद्गल अचेतन है। अतः आत्मा पुद्गल में अपने द्रव्य और गुण का संक्रमण किए बिना पुद्गल के परिणाम को उत्पन्न नहीं कर सकता। समयसारगाथा 104 इसी आधार पर आत्मा के पुद्गल-कर्मकर्तृत्व का निषेध करती है।

इसे एक सरल सूत्र में इस प्रकार कहा जा सकता है— स्वद्रव्य का कर्ता स्वद्रव्य; परद्रव्य के परिणाम का वास्तविक कर्ता परद्रव्य। यही जैन दर्शन का वस्तुस्वातंत्र्य है।

फिर “जीव ने कर्म बाँधा” क्यों कहा जाता है ?

यहीं निश्चय और व्यवहार का अत्यंत सूक्ष्म प्रश्न आता है। समयसार गाथा 105—106 में कहा गया है कि जीव कर्मबन्ध का निमित्तभूत है, इसलिए उपचार से “जीव ने कर्म किया” कहा जाता है। जैसे युद्ध सैनिक लड़ते हैं लेकिन लोक में कहा जाता है—“राजा ने युद्ध किया।” उसी प्रकार ज्ञानावरणादि कर्म के संबंध में जीव का कर्तृत्व व्यवहार से कहा जाता है। अर्थात्—

- व्यवहार में : जीव कर्मबन्ध का कर्ता कहा जाता है।
- परमार्थ में : आत्मा पुद्गलमय कर्मद्रव्य का कर्ता नहीं है।

इस भेद को न समझने पर दो गलतियाँ होती हैं—

- व्यवहार को परमार्थ मान लेना, या
- निश्चय को गलत ढंग से लेकर व्यवहार एवं पुरुषार्थ को ही नकार देना।

समयदेशना में इसी कारण अकर्तृत्व का विवेचन बार-बार साधक को सावधान करता है कि “अकर्ता” का अर्थ यह नहीं कि आत्मा में कोई परिणाम ही नहीं होता।

कर्तृत्वबुद्धि की पहली हानि : स्व-पर भेदज्ञान का विनाश

जब आत्मा यह मानता है—

- “मैं शरीर को चलाता हूँ।”
- “मैं दूसरे को सुख-दुःख देता हूँ।”
- “मैं बाह्य वस्तुओं को बदलता हूँ।”

- “मैं कर्मों को करता हूँ।”

तब उसकी दृष्टि अपने चैतन्यस्वरूप से हटकर पर में चली जाती है। यही स्व-पर-अविवेक है।

समयसार की दृष्टि में परद्रव्य और आत्मद्रव्य का कर्ता-कर्म संबंध वास्तविक नहीं है। *आत्मख्याति* की परम्परा में इस बात को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि यदि आत्मा परद्रव्य का कर्ता हो तो कर्ता-कर्म का वास्तविक संबंध सिद्ध होना चाहिए; किंतु ऐसा नहीं है।

अतः परद्रव्य में कर्तृत्वबुद्धि की पहली हानि है—आत्मा अपने को भूलकर पर को अपना मानने लगता है।

दूसरी हानि : आत्मस्वातंत्र्य की हानि

जैन दर्शन का एक अत्यंत महत्वपूर्ण सिद्धान्त है—प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र है। यदि मैं दूसरे पदार्थ का कर्ता हूँ, तो दूसरा पदार्थ मेरे अधीन होना चाहिए। यदि दूसरा पदार्थ मेरे कर्मों का कर्ता है, तो मैं उसके अधीन होना चाहिए। दोनों स्थितियाँ वस्तुस्वभाव के विरुद्ध हैं।

जैन दार्शनिक परम्परा में इसी कारण परद्रव्य के कर्तृत्व को न मानना आत्मस्वातंत्र्य की स्थापना माना गया है। *समयसार* की टीका-परम्परा में भी परद्रव्य और आत्मतत्त्व के मध्य कर्तृ-कर्म सम्बन्ध के अभाव को प्रतिपादित किया गया है।

इस दृष्टि से शोध का एक महत्वपूर्ण निष्कर्ष यह है— अकर्तृत्व आत्मा की शक्ति का निषेध नहीं, बल्कि आत्मा की स्वतंत्रता की उद्घोषणा है।

तीसरी हानि : अहंकार और ममत्व की उत्पत्ति

कर्तृत्वबुद्धि का अगला परिणाम है— कर्तृत्व → अहंकार → ममत्व → राग-द्वेष → कषाय → कर्मबन्ध।

“मैंने किया”—यह अहंकार को जन्म देता है।

“यह मेरा है”—यह ममत्व को जन्म देता है।

“मेरे कारण हुआ”—यह पराधीनता और अपेक्षा को जन्म देता है।

और जब परिणाम अपेक्षा के अनुरूप नहीं होता, तब क्रोध, मान, माया और लोभ की वृद्धि होती है।

इस प्रकार कर्तृत्वबुद्धि केवल दार्शनिक भूल नहीं है; यह कषाय-उत्पत्ति की मनोवैज्ञानिक भूमि भी है।

चौथी हानि : कर्मबन्ध की पुष्टि

तत्त्वार्थसूत्र 8.1 में— मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग—बन्ध के हेतु बताए गए हैं। कर्तृत्वबुद्धि विशेषतः मिथ्यात्व और कषाय को पुष्ट करती है। जब जीव कहता है— “मैं ही करता हूँ।” तो वह वस्तु के वास्तविक स्वभाव की अपेक्षा अपनी कल्पित सत्ता को स्वीकार करता है। यही मिथ्यादर्शन की भूमि बनती है। फिर “मेरे कार्य का परिणाम मुझे ही चाहिए”, “मेरे साथ ऐसा क्यों हुआ?”, “उसने मेरे साथ ऐसा क्यों किया?” जैसी धारणाएँ राग-द्वेष उत्पन्न करती हैं। इस प्रकार परद्रव्य-कर्तृत्व की मिथ्या बुद्धि कर्मबन्ध की मानसिक जड़ को सींचती है।

पाँचवीं हानि : कर्मवाद का गलत अर्थ—भाग्यवाद

यहाँ एक दूसरी विपरीत भूल भी अत्यंत महत्वपूर्ण है। यदि कोई व्यक्ति कहता है— “मैं कुछ नहीं करता; सब कर्म ही कराते हैं।” तो यह भी उचित नहीं। समयसार की गाथा 332–340 के प्रसंग में इसी एकान्त का परीक्षण किया गया है। यदि कर्म ही अज्ञानी बनाता है, कर्म ही ज्ञानी बनाता है, कर्म ही सुख-दुःख देता है, कर्म ही सब कुछ करता है—तो फिर आत्मा पूर्णतः अकर्ता और कर्म सर्वकर्ता हो जाएगा। यह दृष्टि आत्मा के पुरुषार्थ को ही निरर्थक कर देगी। आपके “आत्मा कर्ता या अकर्ता?” पाठ में गाथा 332–343 के आधार पर इसी प्रश्न को विस्तार से उठाया गया है। आत्मा कर्ता या अकर्ता। इसलिए— “मैं सबका कर्ता हूँ”—यह अहंकार है। “मैं कुछ भी नहीं कर सकता, कर्म ही सब करते हैं”—यह भाग्यवाद है। “मैं अपने परिणाम का उत्तरदायी हूँ और परद्रव्य स्वतंत्र है”—यह जैन आत्मदृष्टि है।

छठी हानि : पुरुषार्थ की दिशा बदल जाना

कर्तृत्वबुद्धि से साधक का पुरुषार्थ बाहर की ओर चला जाता है। वह सोचता है—

- “परिस्थितियाँ बदलें तो मैं सुखी हो जाऊँगा।”
- “दूसरा व्यक्ति बदल जाए तो मेरा दुःख समाप्त हो जाएगा।”
- “कर्म बदल जाएँ तो मैं आत्मानुभव कर लूँगा।”
- “शरीर की विशेष अवस्था प्राप्त हो जाए तो मोक्षमार्ग प्रारंभ होगा।”

समयदेशना इसके स्थान पर दृष्टि को भीतर लौटाती है। परिणामन की वास्तविक भूमि आत्मा का अपना उपयोग है। प्रवचनसार की व्याख्या में भी यह प्रतिपादित है कि आत्मा अपने स्वभावरूप परिणाम का कर्ता है क्योंकि वह उसका स्वधर्म है; पुद्गल के परिणाम आत्मा के कार्य नहीं हैं। अतः सही पुरुषार्थ यह नहीं कि—“मैं संसार को बदल दूँ।” बल्कि— “मैं अपने उपयोग की दिशा पहचानूँ और ज्ञायकस्वभाव में प्रतिष्ठित होऊँ।”

सातवीं हानि : साधना को बाह्य क्रिया तक सीमित कर देना

कर्तृत्वबुद्धि का एक सूक्ष्म रूप धार्मिक जीवन में भी दिखाई देता है— “मैंने इतना तप किया।” “मैंने इतनी पूजा की।” “मैंने इतने व्रत किए।” “मैंने इतने ग्रंथ पढ़े।” “मैंने इतना दान दिया।” ये क्रियाएँ व्यवहार से साधक के जीवन में महत्त्वपूर्ण हो सकती हैं; लेकिन यदि इनके साथ “मैं ही कर्ता हूँ” का अहंकार जुड़ गया तो साधना का लक्ष्य छूट सकता है।

आपके “कर्त्तापन से मोक्ष नहीं” पाठ में इसी बात को विशेष रूप से साधना से जोड़ा गया है—केवल बाह्य कर्तृत्व के आग्रह से मोक्ष सिद्ध नहीं होता; आत्मदृष्टि का परिवर्तन आवश्यक है। कर्त्तापन से मोक्ष नहीं। इसलिए— क्रिया धर्म का साधन हो सकती है, लेकिन कर्तृत्वाभिमान धर्म का सार नहीं है।

आठवीं हानि : पुण्य में भी आसक्ति

जैन दर्शन में पाप के समान पुण्य भी संसार से पूर्ण मुक्ति नहीं देता। पुण्य शुभ कर्मबन्ध का कारण हो सकता है। समयसार की कर्मचर्चा में पुण्य और पाप दोनों को संसार-परम्परा से सम्बद्ध किया गया है। इसलिए यदि साधक— “मैं पुण्य का कर्ता हूँ, मैंने महान धार्मिक कार्य किया है।” इस भाव में प्रतिष्ठित हो जाता है, तो उसका अहंकार सूक्ष्म होकर भी बना रहता है। यहाँ कर्तृत्वबुद्धि का त्याग पुण्य की निन्दा नहीं है; बल्कि पुण्य में अहंकार एवं आसक्ति का निषेध है।

नौवीं हानि : ज्ञायकस्वभाव से विमुखता

जैन अध्यात्म में आत्मा का सर्वोच्च स्वरूप ज्ञाता-द्रष्टा है। जब उपयोग पर में कर्तृत्व खोजता है, तब ज्ञाता अपनी ज्ञायकता को भूलकर क्रिया में तन्मय हो जाता है। जब वही उपयोग स्व की ओर लौटता है, तब साधक समझता है— परिणामन अपने-अपने द्रव्य में हो रहा है; मेरा वास्तविक स्वरूप जानना है। समयसार की गाथा 319–320 में ज्ञानी को कर्मों के विविध परिणामों को जानने वाला तथा बंध-मोक्ष को समझने वाला बताया गया है; ज्ञान स्वयं कर्मों में विकाररूप कर्तृत्व ग्रहण नहीं करता। यहीं से कर्तृत्वबुद्धि का विसर्जन और ज्ञायकभाव का उदय प्रारंभ होता है।

आत्मा के कर्तृत्व का सकारात्मक पक्ष

यहाँ एक अत्यंत आवश्यक दार्शनिक सावधानी है। यह कहना कि— “आत्मा अकर्ता है” यदि बिना अपेक्षा के कहा जाए, तो यह अधूरा कथन होगा। समयसार में आत्मा को अपने भावों का कर्ता स्वीकार किया गया है। गाथा 126–127 में कहा गया है कि आत्मा जिस भाव को करता है, वह उस भाव का कर्ता होता है; अज्ञानी के भाव अज्ञानमय और ज्ञानी के भाव ज्ञानमय होते हैं। अतः शोध की दृष्टि से अधिक सटीक सूत्र यह होगा— “आत्मा स्वपरिणाम का कर्ता है, परपरिणाम का नहीं।” यही सूत्र पूरे विषय को संतुलित करता है।

17. भावकर्म और द्रव्यकर्म का भेद

इस विषय में भावकर्म–द्रव्यकर्म का भेद अत्यंत आवश्यक है।

पक्ष	भावकर्म	द्रव्यकर्म
स्वरूप	चेतन का रागादि परिणाम	पुद्गलमय कर्म
आश्रय	जीव	पुद्गल
वास्तविक कर्ता	जीव के परिणाम की अपेक्षा जीव	पुद्गल
आत्मा का संबंध	परिणामन/भाव की अपेक्षा	निमित्त/व्यवहार
मोक्षमार्ग में समस्या	राग-द्वेष का त्याग आवश्यक	कर्मनिर्जरा आवश्यक
मुख्य साधन	सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र	संवर-निर्जरा की प्रक्रिया

समयसार के गाथा 137–140 में जीव और पुद्गल के परस्पर परिणामों की स्वतंत्रता को अत्यंत सूक्ष्मता से रखा गया है। यदि जीव और कर्म दोनों एक-दूसरे के परिणाम को करते माने जाएँ तो दोनों में कर्मत्व का प्रसंग आ जाएगा; इसलिए प्रत्येक का परिणाम उसी द्रव्य में स्वीकार किया जाता है।

निश्चय और व्यवहार : विरोध नहीं, अपेक्षाभेद

समयसार गाथा 141–144 इस विषय की कुंजी है।

- व्यवहारनय : जीव में कर्म बँधा हुआ कहा जाता है।
- शुद्धनय : जीव में कर्म अबद्ध और अस्पृष्ट है।

और गाथा 142–144 यह संकेत करती हैं कि दोनों नयों को जानना आवश्यक है, किंतु नयपक्ष में आसक्त रहना समयसार का अंतिम लक्ष्य नहीं है। इसलिए— निश्चय व्यवहार का निषेध नहीं करता और व्यवहार निश्चय का स्थान नहीं ले सकता।

समयदेशना में “अकर्तृत्व” का साधनामूलक अर्थ

समयदेशना अध्ययन करने पर अकर्तृत्व को तीन चरणों में समझा जा सकता है—

पहला चरण — बौद्धिक विवेक

“मैं आत्मा हूँ और शरीर, कर्म, इन्द्रिय, मन, वचन आदि परद्रव्य हैं।”

दूसरा चरण — कर्तृत्वबुद्धि का परीक्षण

“क्या मैं वास्तव में दूसरे द्रव्य को अपनी सत्ता से परिणामित कर सकता हूँ?”

तीसरा चरण — ज्ञायकभाव में प्रतिष्ठा

“परिणामन को जानूँ, पर उसमें कर्तृत्वबुद्धि से तन्मय न होऊँ।”

“अकर्ता” का अर्थ अकर्मण्यता नहीं

यह सबसे महत्वपूर्ण व्यावहारिक निष्कर्ष है। यदि कोई व्यक्ति यह समझे— “मैं अकर्ता हूँ, इसलिए मुझे कुछ करने की आवश्यकता नहीं।” तो उसने अकर्तृत्व को समझा ही नहीं। अकर्तृत्व का अर्थ है—परद्रव्य में कर्तृत्वबुद्धि का अभाव। यह नहीं कि— स्वाध्याय न करो। व्रत न लो। तप न करो। आत्मचिन्तन न करो। सम्यग्दर्शन का पुरुषार्थ न करो।

समयसार की साधना-परम्परा में बाह्य क्रियाओं से अधिक महत्वपूर्ण है उपयोग की दिशा। ज्ञानी व्यवहार करते हुए भी अंतरंग में स्वभाव से जुड़ा रहता है। यही कारण है कि एक ही बाह्य क्रिया अज्ञानी के लिए बन्ध का कारण और ज्ञानी के लिए बन्धरहित प्रवृत्ति हो सकती है—अंतर कर्तृत्वबुद्धि और उपयोग का है।

कर्तृत्वबुद्धि से होने वाली हानियों का समेकित विश्लेषण

इस शोध का केंद्रीय निष्कर्ष निम्न रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है— परद्रव्य-कर्तृत्वबुद्धि
→ स्व-पर अविवेक → मिथ्यात्व → अहंकार-ममत्व → राग-द्वेष → कषाय → आस्रव → कर्मबन्ध → संसार।

इसके विपरीत— स्व-पर भेदज्ञान → परद्रव्य-अकर्तृत्व का श्रद्धान → ज्ञायकभाव → राग-द्वेष की निवृत्ति → साम्य → संवर → निर्जरा → आत्मानुभूति → मोक्षमार्ग।

इस प्रकार कर्तृत्वबुद्धि केवल एक दार्शनिक भ्रान्ति नहीं है; यह संसार की मनोवैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक संरचना को बनाए रखने वाली दृष्टि है।

22. एक महत्त्वपूर्ण दार्शनिक निष्कर्ष

इस पूरे विमर्श को एक सूत्र में बाँधा जाए तो— “आत्मा को परद्रव्य का कर्ता मानना आत्मा की शक्ति को बढ़ाना नहीं, बल्कि आत्मा की पहचान को खोना है।” क्योंकि जो आत्मा पर को करने लगेगा, वह अपने स्वभाव से हटकर परस्वभाव को अपना मानने लगेगा। इसके विपरीत— “आत्मा अपने परिणाम का कर्ता है और परद्रव्य के परिणाम का अकर्ता है”—यह कथन आत्मा की स्वतंत्र सत्ता को स्थापित करता है। प्रवचनसार की व्याख्या भी यही स्पष्ट करती है कि आत्मा अपने स्वभावरूप परिणाम का स्वतंत्र कर्ता है, जबकि पुद्गल के परिणाम उसके कार्य नहीं हैं।

23. समयदेशना की मौलिक साधनामूलक देन

समयदेशना के परिप्रेक्ष्य में इस सिद्धान्त की विशेषता यह है कि यह केवल यह नहीं कहती— “आत्मा कर्म का कर्ता नहीं है।” बल्कि वह साधक से पूछती है— “यदि तू कर्ता नहीं है तो फिर किसमें अपना उपयोग लगाएगा?” उत्तर है— ज्ञायक में। इसलिए अकर्तृत्व का अंतिम उद्देश्य केवल “मैं यह नहीं करता” कहना नहीं है, बल्कि— “मैं कौन हूँ?” इस प्रश्न का समाधान करना है।

अकर्तृत्व का निषेधात्मक पक्ष है— पर से भिन्नता। और उसका सकारात्मक पक्ष है—निज चैतन्य का अनुभव। इसीलिए अकर्तृत्व का सिद्धान्त वस्तुतः आत्मानुभूति का प्रवेशद्वार बन जाता है।

निष्कर्ष

जैन दर्शन में आत्मा के कर्तृत्व का प्रश्न एकान्त रूप से “कर्ता” या “अकर्ता” का प्रश्न नहीं है। आत्मा अपने स्वपरिणाम का कर्ता है, किंतु परद्रव्य के स्वपरिणाम का परमार्थतः कर्ता नहीं है। व्यवहारनय में जीव को कर्म का कर्ता कहा जा सकता है, क्योंकि कर्मबन्ध में उसकी परिणति और निमित्तता का संबंध है; परंतु निश्चयनय में पुद्गलमय कर्म आत्मा का कार्य नहीं है। समयसार की गाथा 102, 104–106 तथा 126–142 इस सूक्ष्म भेद को क्रमशः स्थापित करती हैं।

आत्मा के परद्रव्य-कर्तृत्व की बुद्धि से सबसे बड़ी हानि आत्मस्वरूप की विस्मृति है। इससे स्व-पर भेदज्ञान नष्ट होता है, पराधीनता की भावना आती है, अहंकार और ममत्व पुष्ट होते हैं, राग-द्वेष एवं कषाय बढ़ते हैं और कर्मबन्ध की प्रक्रिया मजबूत होती है। दूसरी ओर, यदि कर्म को ही सर्वकर्ता मान लिया जाए तो आत्मपुरुषार्थ और उत्तरदायित्व का निषेध होकर भाग्यवाद उत्पन्न हो सकता है। समयदेशना इन दोनों अतियों से बचाकर द्रव्यस्वातंत्र्य, स्वपरिणाम का कर्तृत्व, परपरिणाम का अकर्तृत्व और ज्ञायकभाव—इन चारों को समन्वित करती है।

अतः इस शोध का अंतिम प्रतिपादन है— “कर्तृत्व का त्याग कर्म का त्याग नहीं, कर्तृत्वबुद्धि का त्याग है; अकर्तृत्व अकर्मण्यता नहीं, आत्मस्वातंत्र्य का बोध है; और परद्रव्य के कर्तृत्व से निवृत्ति आत्मा के ज्ञायकस्वभाव में प्रतिष्ठा की दिशा है।”

इसी दृष्टि से कर्तृत्वपने से होने वाली वास्तविक हानि आत्मा के कार्य करने में नहीं, बल्कि आत्मा का अपने से भिन्न को ‘मैं’ और ‘मेरा’ मान लेने में है। यही समयदेशना की साधनामूलक चेतना का केंद्रीय संदेश कहा जा सकता है।

संदर्भ-सूची

प्राथमिक ग्रंथ

- आचार्य कुन्दकुन्द — *समयसार*, विशेषतः कर्तृ-कर्म अधिकार, गाथा 91–106, 121–144, 311 तथा 319–344. *समयसार* के कर्तृ-कर्म अधिकार में आत्मा के स्वभावपरिणाम तथा पुद्गल-कर्म के संबंध का विस्तृत निरूपण उपलब्ध है।
- आचार्य कुन्दकुन्द — *प्रवचनसार*, विशेषतः आत्मा के स्वपरिणाम के कर्तृत्व और पुद्गलपरिणाम के अकर्तृत्व संबंधी विवेचन।
- आचार्य उमास्वामी — *तत्त्वार्थसूत्र*, अध्याय 6 एवं 8; आस्रव तथा बन्ध के कारणों का विवेचन।
- अमृतचन्द्राचार्य — *आत्मख्याति* टीका, *समयसार*।

उपलब्ध समयदेशना सामग्री

- *समयदेशना* — “कर्म का कर्ता अज्ञानी जीव है” — 54 पृष्ठ, भावकर्म का कर्ता जीव है
- *समयदेशना* — “आत्मा का कर्तृत्वपन” — 26 पृष्ठ, आत्मा का कर्तृत्वपन

- समयदेशना – “आत्मा कर्ता या अकर्ता ?” – 19 पृष्ठ, आत्मा कर्ता या अकर्ता
- समयदेशना – “कर्त्तापन से मोक्ष नहीं” – 13 पृष्ठ, कर्त्तापन से मोक्ष नहीं

आधुनिक अध्ययन/डिजिटल स्रोत

- समयसार – कर्तृ-कर्म अधिकार एवं गाथा-आधारित व्याख्या।
- समयसार गाथा-संग्रह – गाथा 121–144 में जीव-कर्म, परिणाम और नयविभाग का विवेचन।
- तत्त्वार्थसूत्र – बन्धहेतु : मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग।